रामकथावाचन और लोकजागरण

प्रमोद भार्गव

प्रवचनकर्ताओं की आजीविका और प्रसिद्धि का पर्याय बन जाने के कारण भगवान राम की कथा न केवल संपूर्ण भारत, अपितु वैश्विक कथा के रूप में स्थापित हुई है। प्रवचनकर्ताओं की यही भूमिका कृष्ण-कथा को विश्व-व्यापी बनाने में रही है। इन कथावाचकों ने मुख्य रूप से गोस्वामी तुलसीदास कृत 'श्रीरामचरितमानस' को ही अपने प्रवचनों का आधार बनाया है। आक्रांता के रूप में आए मुगल शासकों के जनता पर अत्याचार और मंदिरों के विध्वंस के चलते जनमानस में प्राण बचाए रखने का भय तो बैठा ही, जनमानस भी चिंतन-मनन के स्तर पर सुप्तावस्था से ग्रसित हो गया था। जनमानस की इस स्थितप्रज्ञता को तोड़ने का काम किया तो वह रामानंद, तुलसी, कबीर और सूर का वह भक्ति साहित्य था, जिसने सामान्य जनमानस की चेतना में ऊर्जा का संचार किया और भक्ति-आंदोलन नव-जागरण का प्रमुख आधार बन गया। जिसकी प्रतिध्वनि परतंत्र भारत की स्वतंत्रता के लिए 15 अगस्त 1947 तक प्रत्येक जन के कानों में गूंजती रही। इसमें प्रमुख भूमिका तुलसीदास कृत रामचरितमानस की रही थी।

तुलसी की रामकथा ने तत्कालीन सामाजिक परिवेश और उसकी मानसिकता के यथार्थ को समझा। फिर समाज की इस पीड़ा को स्वानुभूत किया और एक दूरदृष्टा के रूप में रामभक्ति के माध्यम से रागत्मक वृत्तियों को ऐसी अभिव्यक्ति दी कि मुक्ति हेतु छटपटाते समकालीन समाज को भीतर से झकझोर दिया। चूंकि तुलसीदास ने मानस के प्रमुख प्रसंगों का स्थानीय ग्रामवासियों को पात्र बनाकर इनका नाट्य रूप में मंचन भी किया था, फलतः इससे आमजन ने रामकथा के पात्रों से स्वयं को अनुस्यूत अनुभव किया और उन्मुक्तता की चेतना अंगड़ाई लेने लग गई। रामकथा के वाचन और मंचन का प्रभाव यह हुआ कि कालांतर में रामचरितमानस को प्रबंधात्मक रूप से सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भाषा-काव्य की लगभग समस्त प्रचलित विधाओं और पद्धतियों के अनुरूप वर्णित व मंचित किया जाने लगा। इसकी लोकप्रियता के व्यापक प्रभाव से अनेक गद्य व पद्यकारों ने रामकथा को अपनी भाषा में लिखकर देशव्यापी बना दिया। स्थानीय बोलियों में इसी कालखंड में लोकव्यापीकरण भी हुआ। यानी प्रत्येक अंचल और भारतीय जन में इस कथा ने लोक चेतना के जागरण का काम कर दिया।

मानव जीवन के गुण-दोषों को समग्रता से प्रस्तुत करने वाले इस ग्रंथ ने यह भाव जगा दिया कि परतंत्रता मुगलों की हो या अंग्रेजों की, व्यक्ति के स्वाभिमान तथा सांस्कृतिक एवं भाषाई मूल्यों का विस्थापन करते हुए आयातित मूल्यों की स्थापना करती है। अतएव भक्ति आंदोलन धर्मांतरण के विरुद्ध भी खड़ा होता दिखाई देने लगा। इस 'स्व' की अनुभूति ने इस्लामीकरण की तलवार की धार को कुंद करने का काम भी व्यापक रूप में किया। अतएव हिंदी आलोचना के शीर्ष आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल को अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में कहना पड़ा कि - 'अपनी दृष्टि विस्तार के कारण तुलसीदास उत्तर भारत की समस्त जनता के हृदय मंदिर में पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराजमान हैं। भारतीय जनमानस का

प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। अन्य कवि मानव जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं, जैसे वीरकाल के कवि उत्साह को, भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को रीतिकाल के कवि दांपत्य, प्रणय या श्रृंगार को। पर तुलसी की वाणी की पहुंच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ लोक-धर्म की अत्यंत उज्जवल छटा उसमें वर्तमान है।'

यद्यपि तुलसीदास से पूर्व स्वामी रामानंद मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के प्रमुख संत हो चुके थे। उन्होंने रामभक्ति की धारा को बिना किसी जातीय भेदभाव के समाज के प्रत्येक वर्ग में पहुंचाया। वे पहले ऐसे प्रभावशाली संत हुए, जिन्होंने उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार किया। स्वामीजी ने क्षत्रीय रूप में वैष्णव बैरागी संप्रदाय की नींव रखी। इसे ही रामानंदी संप्रदाय कहा जाता है। रामानंद का जन्म प्रयागराज में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे हिंदी में भगवान राम के आदर्श मूल्यों का प्रचार करने के साथ सभी जातियों के विद्यार्थियों के लिए समान रूप से शिक्षा-दीक्षा देते रहे। भगवान राम ने कभी भी किसी भी जाति के लोगों को अपने पास आने से बाधित नहीं किया। निषाद और शबरी जैसे कई प्रसंग रामायण में हैं, जिनसे प्रेरणा लेकर रामानंद ने कथित छोटी जातियों के साथ ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रियों जैसा समतुल्य आचरण किया। छोटी जातियों को उन्होंने रामकथा के प्रसंगों के माध्यम से धार्मिक व आध्यात्मिक गतिविधियों के लिए उपयुक्त माना। अर्थात रामानंद ने तुलसीदास के पहले से ही जन-जन तक रामकथा के मूल्यों की रचना रच दी थी। अतएव मानस के सामाजिक आदर्श और यथार्थ को आमजन से समन्वय बिठाने में आसानी हुई।

जो वर्ण-व्यवस्था आज जाति व्यवस्था में बदलती दिखाई देती है, वह वैदिक युग में आदर्श समाज की स्थापना के लिए थी। वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक, राजनीतिक और सेवा-संस्थाओं का उदय हुआ, जिनके माध्यम से सभी तरह के कार्य किए जाने लगे। परंतु कालांतर में वर्ण-व्यवस्था विकारग्रस्त हो गई और निंदा का कारण बन गई। किंतु राम-राज्य में ऐसा नहीं था। यथा,

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।

चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।

रामकथावाचकों ने हमेशा अयोध्या के राजा दशरथ के राज परिवार को एक आदर्श परिवार के रूप में प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि रामायण से लेकर रामचरितमानस तक विश्व-साहित्य में जो भी इस संदर्भ में काव्य लेखन हुआ, उसका अभीष्ट इस परिवार को आदर्श और सच्चरित्र के रूप में प्रस्तुत करना ही रहा है। हम देखते हैं, इस परिवार के सदस्य धर्माचरण के साथ नैतिक आचरण की श्रेष्ठता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दशरथ, सम्राट होने के तत्पश्चात् भी गुरु का निर्देश पाने के लिए उनके घर जाते हैं। ऐसा नहीं है कि गुरु को राजभवन बुलाएं ? गुरु के ज्ञान की महिमा के प्रति यह व्यवहार, इस बात का द्योतक है कि ज्ञान के समक्ष सत्ताधारियों का सार्वजनिक व्यवहार समर्पण का होना चाहिए। इस व्यवहार से ही भारत में

गुरु के प्रति एक विशेष प्रकार की आस्था की निर्मिति हुई है, जो वर्तमान में भी प्रचलन में है। राम और उनके तीनों अनुज गुरु के घर पढ़ने जाते हैं, ऐसा नहीं है कि गुरु राजभवन आ रहे हैं। तय है, शिष्य चाहे राजकुमार हो, श्रेष्ठि-सुत हो या अन्य कोई भी, उसे शिक्षार्जन के लिए शिक्षक के घर ही जाना सुनिश्चित था। वैदिक काल से चली आ रही गुरुकुल की इस परंपरा को रामराज्य में और मजबूती मिलती है। अतएव जब ऋषिवर विश्वामित्र यज्ञ-विध्वंसक राक्षसों से परेशान होकर यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को मांगने राजा दशरथ के पास आते हैं, तब दशरथ न केवल उनकी आवभगत करते हैं, अपितु आने का उद्देश्य भी पूछते हैं। विश्वामित्र ने अपना उद्देश्य उजागर किया तो राजा को दुख होता है-

सुनि राजा अति अप्रिय वानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी।।

चौथे पन पायउ सुत चारी। बिप्र वचन नहिं कहेउ बिचारी।।

मांगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्वस देऊं आज सहरोसा।।

देह प्रान लें प्रिय कुछ नाहीं। सोइ मुनि देउं निमिश एक माही।।

पुत्र मोह से व्यथित पिता को विश्वामित्र धर्म रक्षा का उपदेश देते हैं और कर्त्तव्य पालन की श्रेष्ठता बताते हैं, तब भी राजा दशरथ पुत्रों को वन भेजने की अनुमति नहीं देते हैं। अंततः गुरु वशिष्ठ के समझाने पर दशरथ सहमति जता देते हैं। धर्म रक्षा से ही राष्ट्र की सीमाओं की सुरक्षा संभव थी।

इस सिलसिले में महर्षि अरविंद घोष ने अपने 'भारतीय संस्कृति के आधार' ग्रंथ में लिखा है, 'रामायण में हमें ऐसे धर्मराज्य, सुप्रतिष्ठित विश्व साम्राज्य का एक आदर्शात्मक चित्र मिलता है, जिसमें राज्य प्रणाली को आदर्श के रूप में स्थापित किया गया है। वह कोई तानाशाही निरंकुश शासन नहीं, बल्कि एक ऐसा सार्वभौमिक राजतंत्र है, जिसे नगरों तथा प्रांतों की तथा सभी वर्गों की स्वतंत्र व्यवस्थापिका सभा का समर्थन प्राप्त है। अर्थात वह राजतंत्रात्मक राज्य का ही विस्तार है, जो भारतीय राज्य प्रणाली के सामुदायिक स्वायत्त शासनों को समन्वित करता है और धर्म के नियम तथा राज संविधान की रक्षा करता है।'

किसी भी महान रचनाकार की जीवन-दृष्टि युग सापेक्ष होते हुए भी, युगीन सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई युग-युग के लिए सार्थक बन जाती है। अंतर्दृष्टा विश्व कवि तुलसीदास भी इसी श्रेणी के महाकवि थे, जिनकी सर्जना का स्वर आज भी उतना ही सार्थक एवं प्रासंगिक है, जितना कि उनके अपने जीवनकाल अथवा मध्यकाल में था। तुलसी के युग में इस्लामिक आक्रमणकारी हिंदू धर्म पर निरंतर हमले कर रहे थे। आक्रांता सिकंदर लोधी के समय से ही हिंदुओं पर बलात इस्लाम लादा जाने लगा था। अनेक मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बनवाई गईं। उनके समय में धार्मिक 'पक्षपात सीमा को पार कर गया था।'

इस्लाम धर्म के प्रचारकों एवं सूफी कवियों ने भी हिंदू धर्म पर अनेक प्रहार किए। इन्होंने शूद्रों को मुस्लिम धर्मावलंबी बनाना आरंभ कर दिया। हिंदू धर्म के अस्तित्व के लिए यह धर्मांतरण एक बड़ी चुनौती साबित होने लग गया। आक्रमणों से आहत छिन्न-भिन्न हुए हिंदुओं में इस कालखंड में इतनी संगठित शक्ति

नहीं थी कि इस्लाम से मुकाबला कर सकें ? ऐसे में संत कवियों में तुलसीदास ने अपने युग की धार्मिक विषमता एवं संघर्ष का अत्यंत मार्मिक एवं मनौवैज्ञानिक चित्रण किया। तुलसीदास ने अपनी पूर्ववर्ती चिंतनधाराओं के साथ मुस्लिम आक्रांताओं की विजय और देश के अधोपतन को भी अपने चिंतन का आधार बनाया। तुलसी का युग विविध मत-मतांतरों और संप्रदायों का युग था, जिनके मूल में धर्म भावना लगभग लुप्त हो चुकी थी। अकबर ने 1581 में 'दीन-ए-इलाही' के नाम से एक नया पंथ चलाया। यही वह संक्रमणकाल था, जब सनातन हिंदू समाज में भी अनेक पंथ-संप्रदाय प्रचलन में आकर सनातन की एकता को विघटित करने लग गए थे। तुलसी ने मानस में इन पर प्रहार करते हुए कहा है,

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सदग्रंथ।

दंभहि निजमति कल्पि करि प्रकट किए बहु पंथ।।

स्पष्ट है, तुलसी का युग धर्म, संस्कृति और राजनीतिक पराभव का युग था। उस कालखंड में वे तुलसी ही थे, जिन्होंने हर प्रकार के धर्म-विरोधी पाखंड, आडंबर और कर्मकांड का विरोध किया। नाथ-पंथियों द्वारा की जाने वाली गुह्य साधनाओं से जनसाधारण पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। अतएव उन्होंने ऐसे सभी प्रकार के दुष्प्रचारकों, वज्रयानियों, कापालिकों, पाशुपतों और वामाचारियों को आड़े हाथ लेते हुए कहा-

असुभ वेश भूषन धरें, भच्छाभच्छ ते खाहिं।

तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं।।

तुलसी के समय चारों ओर अधर्म और पापाचार का बोलबाला बढ़ रहा था। लोग वेद आधारित धर्म के विरुद्ध जा रहे थे। परस्पर विश्वास खंडित हो रहा था। इस प्रकार की विषम परिस्थिति में तुलसीदास आमजन को चेतावनी देते हैं -

सहबासी कायो गिलहीं पुरजन पाक प्रवीन।

कालछेप केहि मिलि करहिं तुलसी खग-मृगमीन।।

किसी भी राष्ट्र की चेतना धर्म होता है। परंतु जब अनेक कुपंथ प्रचलन में आ गए, प्रलोभन और जब मतांतरण कराए जाने लगे, हिंदुओं में कब्र-पूजा, भूत-प्रेत पूजा और तंत्र-पूजा बढ़ने लगी, मंदिरों और तीर्थस्थलों की स्थिति दयनीय होने लगी, तब वास्तविक सनातन धर्म की चिंता करते हुए तुलसीदास पाखंड पर कुठाराघात करते हुए जनसाधारण को चेताते हैं,

काहे को अनेक देव सेवत, जागै मसान,

खोवत अपान, सठ, होत हठि प्रेत रे।

काहे को उपाय कोटि करत, मरत धाय,

जाचत नरेस देस-देस के, अचेत रे।।

साफ है, तुलसी ने वेद विरोधी परंपरा का विरोध भी भक्ति के माध्यम से किया और अपनी रामकथा के माध्यम इन विसंगतियों को हटाकर लोकजागरण का प्रयास किया। जिससे हिंदू-सनातनियों में धर्म-विरोधी जो व्यवहार और अविश्वास बढ़ रहा है, उस पर राम की भक्ति और शक्ति से अंकुश लगा दिया जाए। इसीलिए उनकी ललकार की कटु-वाणी में समाज की ध्वनि अंतर्निहित थी। उनके व्यक्तित्व में राष्ट्र की प्रतिच्छाया थी। वे अपने मंतव्य को रामभक्ति के माध्यम से निर्भय व लालच मुक्त रहते हुए गान करते रहे। इस ओजस्वी राष्ट्रगान की प्रतिध्वनि जब अकबर के कानों में गूंजी तो वह समझ गया कि इस वाणी पर अंकुश नहीं लगाया तो यह इस्लाम के विरुद्ध जनता में आक्रोश का ज्वार पैदा कर सकती है ? तुलसी को अतएव अकबर ने दरबार में दरबारी रत्न का प्रलोभन देकर हरकारे से बुलावा भेजा। किंतु इस स्वाभिमानी रचनाधर्मी ने प्रतिउत्तर में कहलाया -

हम चाकर रघुबीर के, पटौ लिखौ दरबार।

अब तुलसी का होहिंगे, नर के मनसबदार।।

जबकि अकबर के आमंत्रण की ऐसी अवहेलना राजा मानसिंह, बीरबल, टोडरमल और संगीत सम्राट कहे जाने वाले तानसेन नहीं कर पाए थे। तुलसी द्वारा इस आमंत्रण को ठुकराने से उनके प्रति हिंदू जनमानस में यह धारणा बनी कि इस व्यक्ति में धर्म की शक्ति है, इसीलिए मनसबदारी का प्रलोभन भी इस संत और फक्कड़ कवि को नहीं लुभा पाया। यह बादशाह के भय से भयभीत भी नहीं होता। निर्लिप्त बना रहता है।

तुलसी ने लोक-व्यवहार के आधार पर उस कालखंड में प्रचलित धर्म-संप्रदाय के पाखंड पर तो प्रहार किया, किंतु किसी धर्म-संप्रदाय विशेष के प्रति विरोधी आग्रह प्रकट नहीं किया। यदि वे ऐसा करते, तो उनका काव्य सर्वग्राही नहीं होने पाता। तुलसी ने अपने युग के सभी पंथ, संप्रदायों और धर्मों के भक्ति रूप को अपनी भक्ति और मीमांसा की कसौटी पर परखा और फिर भगवान राम के लोकरक्षक रूप को संस्कृत के क्लिष्ट चरित्र-चित्रण से निकाला। अवधी और ब्रज भाषाओं के माध्यम से रामचरित को सर्वजन को सुलभ कराया। रामचरितमानस को धर्म एवं आचरण के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश-स्तंभ पर ज्योतिर्दीप के रूप में प्रतिष्ठित कर देने का काम करके सनातन संस्कृति और धर्म की रक्षा की।

तुलसीदास के सनातन को अक्षुण्ण और स्वतंत्रता की लोक चेतना से जुड़े आडंबर से मुक्त बनाने के वह संदेश ही थे, जो 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के उद्घोष से लेकर आजादी की अंतिम लड़ाई तक जनमानस को झकझोरते रहे। अतएव हम कालांतर में देखते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त 'भारत भारती', निराला 'राम की शक्ति पूजा' और दिनकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' जैसी राष्ट्रवादी कृतियां रचते हैं। जयशंकर प्रसाद का तो संपूर्ण रचना कर्म इतिहास के पुनर्लेखन के रूप में अतीत की गौरव गाथाओं का ही आधार बन जाता है। महात्मा गांधी स्वतंत्रता के निकट पहुंचने पर रामराज की परिकल्पना करने लग जाते हैं।

इसी लोक चेतना का पर्याय था कि अंग्रेज जिस समय भारत में सत्ताधीश हुए, उसी समय से उनके विरुद्ध विद्रोह होने लगे थे। 1857 की क्रांति से ठीक पहले तक प्रत्येक वर्ष कम से कम एक युद्ध अंग्रेजों को

स्थानीय राष्ट्र भक्तों से लड़ना पड़ा था। ये सभी संघर्ष सशस्त्र विद्रोह थे। इन विद्रोहों में बंगाल और बिहार में संन्यासियों के विद्रोह प्रमुख रहे थे। मध्यप्रदेश के ग्वालियर में जब अंग्रेजों की सत्ता को बेदखल करने के लिए झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और तात्याटोपे सिंधियाओं से लोहा ले रहे थे, तब गिर-गोस्वामी संन्यासियों ने इस लड़ाई में अपनी आहुति दी थी। इनके अलावा किसानों का विद्रोह, मिदनापुर, रंगपुर, मैसूर, रामनाथपुरम, किट्टूर, श्रावणकोर और खानदेश के विद्रोह प्रमुख विद्रोह थे। मुख्य सशस्त्र विद्रोह में वनवासियों (आदिवासियों) द्वारा किए गए विप्लव भी थे। ये सन् 1817 और 1837 तक सक्रिय रहे। 1855-56 में संथालों ने विद्रोह किया थ। ये विद्रोह विभिन्न अंचलों में हुए और इनमें राम-कृष्ण की लोक-कथाओं की प्रमुख भूमिका रही थी। ये विद्रोह बड़े क्षेत्र में अवश्य विस्तृत नहीं थे, परंतु इनसे यह पता चलता है कि उस समय देश में फिरंगी हुक्मरानों के प्रति विरोध स्थान-स्थान पर सुलग रहा था। इस विद्रोह को जगाने का काम राम और कृष्ण की गांव-गांव मंचित की जाने वाली लीलाओं ने भी किया था। इसी के फलस्वरूप 1857 में महाविस्फोट के रूप में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था। लोक-पीड़क समाज में लोक-चेतना का संचार एवं लोक-जागरण का काम करने में महत्ती भूमिका रामकथा की रही थी, इसे स्वीकारना होगा। इसे सही रूप में क्रांतिदर्शी स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने पहचाना और इस विद्रोह को '1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' नाम देकर पूरा इतिहास ही लिख दिया।

वास्तव में लोक चेतना समाज की समवेत चेतना होती है। विभिन्न धार्मिक मतों के अनुयायी, विभिन्न आर्थिक वर्गों के लोग, संस्कृतिकर्मी, बुद्धि-व्यवसायी, युद्ध व्यवस्था से जुड़े लोग, साधु-संत, जनसेवक, नगरों, ग्रामों और वनों में रहने वाले अपनी परस्पर विरोधी मानसिकता के होते हुए भी तात्कालिक परिस्थितियों का दबाव जब समान रूप से अनुभव करते हैं, तब इस सामूहिक चेतना का जो रूप बनता है, वही लोक-चेतना का समवेत स्वर बन जाता है। यही स्वर परतंत्रता से मुक्ति के आवाहन का शंखनाद करने लग जाता है। अतएव देश में जब आक्रांता मुसलमान आए या फिर व्यापार के बहाने फिरंगी, हमेशा इनके विरुद्ध कहीं न कहीं विद्रोह का अभियान चलता रहा। मस्तिष्क में इस लोक-चेतना की व्याप्ति अपने अस्तित्व के लिए स्वत्व के भाव का प्रस्फुटन करने वाले साहित्य से होती है। भक्तिकाल में स्वत्व के इस भाव को तुलसी समेत अन्य संत कवियों ने जगाया, जिससे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के योद्धाओं ने प्रेरणा ली, तदुपरांत इस संग्राम के रक्त से आगे की लड़ाई में रक्त के प्रवाह को बढ़ाने का काम बकिमचंद्र के 'आनंद मठ' उपन्यास में गाए गीत 'वंदे मातरम्' और फिर सुभद्राकुमारी चैहान की प्रखर राष्ट्रवादी कविता 'झांसी की रानी' ने तो आजादी की अंतिम लड़ाई के लिए, ऐसी बयार चलाई कि अंग्रेजों को भारत को स्वतंत्र करने का निर्णय लेना पड़ा।

तुलसी की रामकथा अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में भी लोकजागरण का बहुत बड़ा उपकरण सिद्ध हुई। इस रामकथा के प्रवचन तथा इसपर आधारित रामलीलाओं के माध्यम से समाज को अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध एकजुट और संगठित करने का कार्य उस समय अनेक स्वाधीनता सेनानी कर रहे थे। इनमें ठाकुर प्यारेलाल सिंह, ठाकुर छेदीलाल सिंह, क्रांति कुमार भारतीय आदि अनेक नाम शामिल थे। एक नाम पंडित दीनानाथ मिश्र का भी है, जिन्हें रामचरितमानस की एक चौपाई - 'जानि न जाई निशाचार माया। कामरूप

केहि कारन आया।' कहने के लिए अंग्रेजों ने कारावास में डाल दिया था। स्पष्ट है कि अंग्रेज शासन के विरुद्ध आंदोलन में तुलसी की रामचरितमानस ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

दरअसल रामकथा में जो भक्ति के माध्यम से लोक-जीवन का पक्ष है, वह भारतीय जनमानस में व्यावहारिक रूप में मूर्तिमान हो उठा था। क्योंकि उसके अवचेतन में बैठी मूलचेतना में वह भारतीय संस्कृति और सभ्यता है, जिसका उद्गम वैदिक वाङ्गमय की अमृत ऋचाओं से उद्भूत होकर के उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, स्मृति ग्रंथ और रामायण-महाभारत के लोक में प्रचलित अमर संदेशों द्वारा प्रचारित, प्रसारित होकर अनवरत बना हुआ है। अतएव कह सकते हैं कि हमारे लोक का मानस, लोक में व्याप्त जीवन के आदर्श मूल्यों से निर्मित होता रहा है और होता रहेगा।

संदर्भ :

1 - रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस

2 - दोहावली, गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस

3 - तुलसी काव्य में धर्म व आचरण का स्वरूप, चरणसखी शर्मा

4 - भक्ति काव्य का अंतर्दर्शन, डॉ देवेंद्र शर्मा

5 - हिंदी भास्वर मंच के चार सूत्रधार, सत्यदेव चतुर्वेदी

प्रमोद भार्गव

वरिष्ठ साहित्यकार एवं पत्रकार

मो. 09425488224